JETIR.ORG ISSN: 2349-5162 | ESTD Year : 2014 | Monthly Issue
JOURNAL OF EMERGING TECHNOLOGIES AND INNOVATIVE RESEARCH (JETIR)
An International Scholarly Open Access, Peer-reviewed, Refereed Journal

'ज़मीन पक रही है' में अनुभूतियों का विस्तार

प्रस्तुति–डॉ. सुनीता दुरंगल
एसोसिएट प्रोफ़ेसर,
दौलत राम कॉलिज,
हिन्दी विभाग,
दिल्ली विश्वविद्यालय

अपने समय को शब्दों मे गढ़ते केदारनाथ सिंह आधुनिक हिंदी कविता में अपनी एक अलग ही भूमिका निभाते नज़र आते हैं, जहाँ उन्हें हर छोटे से छोटे पल ने अपनी ओर खींच लिया है वे रच दते हें कुछ ऐसे बिंब, प्रतीक, मिथक जिन्हें कई नये रुप दिये उन्होंने। साहित्य अकादमी पुरस्कार से सम्मानित केदारनाथ सिंह, की 'जमीन पक रही है' कविता संग्रह 1980 में प्रकाशित हुआ जो एक अलग सा अपनापन लिए हुए है। जिसकी भाव–भूमि में सिमटे हैं न जाने कितनी दिशाएँ और दिशाओं का पता पूछते वे खुद। जीवन के विलक्षण अनुभवों को केदार जी ने 'जमीन पक रही है' कविता संग्रह में संजोया है।

आलोच्य कविता संग्रह में नज़र आती है अजीब सी धूप, पक्षियों के झुण्ड, चमकता हुआ पानी, कोरे कागज़, पेड़ों की चुप्पियाँ, तो तेज़ होती बौछारें बहती ज़मीन की महक, पकते हुए दाने, आटे की गंध, चलती हुई चक्की, चुपचाप बहती गाँव की नदी, कीचड़, सिवार, जलकुम्भियाँ, नदी में नहाने जाती भैंसे मछलियाँ, प्रतीक्षा प्रेमिका और अखबार की, सूर्योदय, चिड़िया शहर की इमारतें, साबुन के डिब्बे, तौलिए, धीमी गनगुनाहरें, खनिज गंध, घूमती हुई पृथ्वी, टमाटर बेचने वाली बुढ़िया, बहुत सी नदियाँ, अजीब सी अफवाहें, बतखों के डैनो की छपू–छपू, हल्की सी धूप, साखू के पेड़, आग की गंध, गोल गोल सुर्ख और पकी रोटी, गिलहरी, वाघिन के बच्चे, सादा पन्ना, ठण्डी खुशबू, तम्बाके के खेत, अनजाने द्वीप, आंगन में बिखरे परिजात के फूल, पंछियों के झुंड, चरागाहे भूसे की गंध। 'ज़मीन पक रही है' कविता संग्रह में

हाकर, 'सूर्य', 'ज़मीन', 'आवाज', 'बिना नाम की नदी', रोटी, 'जब वर्षा शुरु होती है', 'बहस', 'दो लोग', 'बाज़ार से लौटकर', 'बैल', 'दिशा', 'बढ़ई और चड़िया', 'लड़के', 'फर्क नहीं पड़ता', 'दोपहर', 'आधी रात', ढाल से उतरते हुए, 'जाड़ों के शुरु में आलू, 'सूर्यास्त', 'मुक्ति', 'वस्तुएँ', 'बारिश', 'जाना', 'गरमी में सूखते हुए कपड़े', 'धूप में घोड़े पर बहस', 'माँझी का पुल', 'सादा पन्ना' इत्यादि कविताएँ अपने अलग ही अंदाज़ में केदार जी ने गढ़ी हैं।

ज़िंदगी के हर एहसास को व अपनी कविताओं में रच रहे थे चाहे सुबह सवेरे उठकर दरवाज़ा खोलना हो या अखबार का इंतज़ार, वे करते हैं और महसूसते हैं कि प्रतीक्षा चाहे अखबार की हो या प्रेमिका की शायद दोनों में कोई फर्क नहीं है। प्रतीक्षा के विरुद्व वे प्रतीक्षा शब्द को ही गलत और बेमानी मान लेते हैं क्योंकि आज महसूसने की तथाकथित परंपरागत सोच व प्रणालियों में तब्दीलियाँ आ गई हैं और तो और चिड़ियों ने अपने घोसले तक बदल डाले हैं 'प्रतीक्षा के विरुद्व कुछ पंक्तियाँ कविता में कुछ ऐसे ही अंदाज़ में वे रचते हैं–''जैसे चिड़ियाँ/तुम्हारे कोट की जेबों से नहीं/बल्कि चिड़ियाँ निकलती हैं/शहर की सबसे मनहूस इमारतों से।'' पृ0–19।

इतना ही नहीं परिवर्तित होने के क्रम में बहुत कुछ बदल गया है मंजन का स्वाद, वधु बृहस्पति साबुन का डिब्बा, तोलिये। कहीं बेनाम नदी को वे नाम दे देना चाहते हैं तो कहीं सूरज निकलने के बाद उस नदी में नहाने आती हैं भैंसे। वे बाध्य करते हैं नदी को नाम कौन देता है यह विचारणीय हो–वे कहते हैं 'वह इसी तरह बह रही है पिछले कई सौ सालों से/एक नाम की तलाश में/मेरे गाँव की नदी (पृ0–15) यह वह नदी है जो हरेक की कहानी जानती है कई सौ बरसों से। वे सीधे खेतों की ओर चल देना चाहते हैं जहाँ शब्द पक रहे हैं जिन्हें वे दोनों के भीतर होने की संभावना से बांध देते हैं वे घुस जाना चाहते हैं दाने के भीतर, पिसने से पहले आटे के शुरु में और फिर आती है चक्की के साथ दानों के पिसने और गाने की आवाज़–जो हैं माँ की आवाज़ वो माँ जो चक्की के अंदर थी वे सुनते हैं 'पत्थरों' की दगड़ और आटे की गंध/धीरे–धीरे छन रही थी/माँ की आवाज़../सिर्फ चक्की चलती रही। और माँ की आवाज़ आती रही रात–भर (पृ014 'आवाज़')

सुबह का पतझर जहाँ झर–झर–झर के स्वर करती झरती हैं पत्तियाँ, जो बिखरती हैं आंगन में, देहरी पर और फिर आती है उनकी, बारिश की ओर–और होती जा रही बौछारों की ओर, और फिर जूते

बारिश में भीग कर/एक अजब ढंग से खूबसूरत लग रहे थे। जिंदगी की बेनकाब सच्चाईयाँ अपनी ईमानदारी के साथ बयाँ करते हैं केदार जी 'ज़मीन पक रही है' कविता संग्रह में – 'जूते जैसी रोजमर्रा की ज़िंदगी में इस्तेमाल होने वाली वस्तु भी बरबस ध्यान अपनी ओर खींच लेती है।

कहीं वे जाते हैं आमंत्रित करते हुए उस आग तक उस चूल्हे तक–जहाँ पक रही है ताप और गरिमा के साथ दुनिया की सबसे आश्चर्यजनक चीज़ 'रोटी' और वे कहते हैं 'मैंने जब भी उसे तोड़ा है/मुझे हर बार पहले से ज्यादा स्वादिष्ट लगी है/पहले से ज्यादा गोल और खूबसूरत/पहले से ज्यादा सुर्ख और पकी हुई। (पृ0–25) 'रोटी का सौन्दर्य उसी गोलाई या पकने से भी ज्यादा अनुभव के सुखद पलों और स्वाद को परिभाषित कर रहा है। यहाँ आलूओं को चीरती स्त्री को देख कविता और ज्यादा ठोस हो जाती है कहीं, जो अब तक कविता का केन्द्र थी वहीं कविता के बाहर खड़ी नज़र आती है और कविता को ध्वस्त कर रही है। 'हिमालय किस दिशा में है इसका अंदाज़ वे पतंग उड़ाते बच्चों के जवाब में कुछ इस तरह गढ़ते हैं–हिमालय किधर है/मैंने उस बच्चे से पूछा जो स्कूल के बाहर/पतंग उड़ा रहा था.../ उधर–उधर–उसने कहा–जिधर उनकी पतंग भागी जा रही थी... (पृ0–42) रचने का अलग ही अंदाज़ केदार जी के इस कविता में नज़र आता है। इतना ही नहीं ज़मीन का पकना उन्हें रुप, रस, गंध, स्पर्श हरेक बिंब से जोड़ देता है जब वे कहते हैं–ज़मीन अपने कपड़े उतार रही थी/हवा में एक अजीब सी ठंड थी/जिसमें ज़मीन का कत्थईपन मिला हुआ था/ज़मीन पा रहीं है–उसने कहा (पृ0–10)

'टमाटर बेचने वाली बुढ़िया' कविता में न सिर्फ टमाटर महत्व के है अपितु वह टमाटर बेचने वाली बुढ़िया उन्हें गोर्की के 'माँ' उपन्यास के नज़दीक ले जाती है वह बुढ़िया जिन टमाटरों को बेच रही है उनमें बहुत सी नदियाँ हैं और हैं अनेक शहर। जिनके विषय में और कोई नहीं जानता पर वो बुढ़िया जानती है। विलुप्त होती नदियों–शहरों की कहानी रचते टमाटरों और बुढ़िया के ज़रिए केदार जी भविष्य की चिंता से अगाहा करवाना चाहते हैं। बाजरवादी संस्कृति के दंश झेलते आलूओं की वास्तविकता को भी वे रचते हैं उतनी ही सच्चाई के साथ, जो आज के उत्तर आधुनिकता वादी दौर की बेबाक सच्चाईयाँ हैं 'जाड़ों के शुरु से आलू' कविता में वे कहते हैं–'वह ज़मीन से निकलता है और सीधे/बाज़ार में चला जाता है... वह बाज़ार में ले जाता है आग/और बाज़ार जब सुलगने लगते हैं/वह बोरों के अंदर उछलना शुरु करता है। (पृ0–40) सूर्य का सौन्दर्य वे कुछ इस रुप में बयाँ करते हैं जिसे देखने की

फुर्सत आज की भागम–भाग की ज़िंदगी में नहीं है वह कोई मामूली सूरज नहीं है, वह रोटी सा हो जाता है सुर्ख लाल, पका हुआ'–डूबते हुए सूरज की तंदूरी रोटी सा बेखबर/सिर्फ़ हवा की नमी और घास का गड्वर... (पृ0–39)

आलू, रोटी, आटा, टमाटर, जूते, पतंग, साबुन, मंजन, अखबार, चाकू, बोरे, पके भुट्टे, कटती सब्ज़ी की गंध, बालू के कण, कया नहीं है केदार जी के 'ज़मीन पक रही है' कविता संग्रह में। इन सभी से एक नाता ताउम्र रहा केदार जी का और वे 'नहीं भूले–घाघरा नदी पर बने पुराने 'माँझी के पुल' को वे सब वे कैद कर लेते हैं कविता में–उनके विलक्षण सौन्दर्य के साथ और साँझा करते हैं–

'सारसों के झुण्ड की तरह डैने पसार हुए
धीरे–धीरे उड़ता है माँझी का पुल
वह कब बना था
कोई नहीं जानता
किसने बनाया था माँझी का पुल
यह सवाल मेरी बस्ती के लोगों को
अब भी परेशान करता है। (पृ0–94)

सिर्फ इतना ही नहीं ज़मीन पक रही है, कविता संग्रह में न जाने कितने ही बिंब अपने होने के एहसास को नय बिंदुओं से जोड़ रहे हैं रुप, रस, गंध, स्पर्श, स्वाद सभी किसी न किसी रुप में यहाँ नज़र आते हैं। जहाँ यदि हवा में एक अजब सी गंध जो सुबह सवेरे–सवेरे खिल कर झरते परिजात के फूलों से बिखर रही है वही सुर्ख नारंगी और सफ़ेद रंग के फूलों में जिस सौन्दर्य को केदार जी रचते हैं वह न सिर्फ गंध के आवरण में बिखर रहा है अपितु बरबस अपने संपूर्ण, सौन्दर्य के साथ गढ़े गए।

बिंब को गहरी अनुभूतियों में बाँध रहा है। परिजात के फूलों के रुप–गंध रस अचानक उन्हें बटोर लेने के लिए निमंत्रण सा देते महसूस होते हैं ठीक ऐसा ही चूल्हे पर पकती रोडियों की गंध अनायास रोक लेती है। यहाँ परिजात के फूलों का सौन्दर्य हो या रोटियों की गंध बिंबों के हर पक्ष को केदार जी का कवि महसूसता ही नहीं अपितु महसूस भी करवाता है और तो और यदि रोटियों के स्वाद की बात की जाए तो वह जब–जब तोड़ी गई है पहले से ज्यादा स्वादिष्ट लगने लगती है यहाँ स्वाद तक ही कवि

नहीं सिमटा बिल्क रोटी अपनी गोलाई और खूबसूरती में भी ग़ज़ब सा ढहा रही है पहले से ज्यादा सुर्ख और पकी हुई। जिससे स्वाद खुदबाखुद बढ़ रहा है।

जिस ओर रोज़मर्रा की ज़िंदगी में ध्यान नहीं जाता है उसकी सारी की सारी मौजूदगी केदार जी कविता में दर्ज कर रहे हैं। फिर चाहे वो रुप से जुड़ा कोई बिंब हो या स्पर्श से जुड़ा। केदार जी का कवि बाँध ही लेता है ज़मीन की महक को, आटे की गंध को, रोटियों के सुर्ख रंग को, पकते हुए दानों को और ज़मीन की महक को भी ज़मीन पक रही है कविता संग्रह में ध्वनियों ने भी अपनी एक अलग पहचान बनाई है चाहे चहकती चिड़ियों हो, बतखों के डैनों से आती छप–छपू की आवाज़ें हो, रात भर बरसती बारिश की बूंदों का शोर हो किसी की धीमी गुनगुनाहट हो, बीज कुदरती नन्हीं गिलहरी की कुतरन हो व रच रहे हैं ध्वनियों का नया संसार इतना ही नहीं, वे सुन लेते हैं पेड़ों को, चिड़ियों कोख, चिड़ियों की चहचहाटों को अपनेपन से वो कैद कर लेते हैं। वे महसूस लेते हैं, पेड़ों में छिपी गिलहरी की नन्ही हरकतों को, दूर बजते ढोल उन्हें कुछ कहते हैं, ताजा और ठंडा दिन उन्हें स्पर्श कर गुजर जाता है। और उसमें बिल्कुल नया–सा एहसास बुन देते हैं।

सिर्फ इतना ही नहीं बिंबों के संसार में कुछेक ऐसे प्रतीक भी गढ़ रहे हैं जो ज़मीन से जुड़े हुए से हैं। सूरज उन्हें तंदूरी रोटी सा लगने लगता है वह सूर्य जो अब तक अपन, ऊर्जा का प्रतीक रहा वही अब तंदूरी रोटी सा हो गया। वही आग जो गरमाहटों भरी है अब पकती हुई सी वे महसूसते हैं। आग का पकना एक नये प्रतीक को रच रहा है। जो संकेती है पकती हैं तपन देती हैं अब खुदबाखुद पकने लगी है। नमक और पानी भी कुछ इसी तरह के प्रतीक हैं जो जीवन का अनिवार्य हिस्सा हैं अब 'प्यार' का प्रतीक बन गए हैं इसी तरह की है 'सड़क' भ्झी जो 'प्यार' को परिभाषित कर रही है। रोजमर्रा की ज़िंदगी में इस्तेमाल होने वाली कई चीज़ें केदार जी के 'ज़मीन पक रही है' कविता संग्रह में नज़र आती है और आ जुड़ती है नये बिंबों – नये प्रतीकों के साथ–जहाँ माचिस की डिबिया, तौलिए, साबुन का डिब्बा चाकू, जूते, मोज़े, गिलास, पेन पेंसिल, चम्मच, चूल्हा, सुई, घड़ी, कागज़, मेज़, कुर्सियाँ, दरवाज़े, बाल्टी, खिड़कियाँ, पंखे, गमले, दीवारें, माचिस की तीलियाँ, धागा, पर्दे, चादर, बोतलें, शीशा और भी न जाने कितना कुछ 'ज़मीन पक रही है' – में हर बारीकी के साथ सिमटा हुआ नज़र आता है। केदार जी का कवि जैसा महसूस कर रहा है वही रच भी रहा है अनुभूति की सत्यता और भोगे हुए यथार्थ से बंधा–

ज़मीन सिर्फ ज़मीन की तरह लग रही थी

सिर्फ ज़मीन थी

और ज़मीन का पकना था जैसे बस्ती में गोश्त पक रहा हो (पु0–12)

कहीं कोई बनावटी पन नहीं नज़र आता यहाँ, जो गढ़ा जा रहा है वही महसूस भी किया गया है। चाहे वह रोटी में प्रवेश करता नामक की तरह सूर्य हो या घने कोहरे में चाय के लिए दूध खरीदने नुक्कड़ की दुकान तक जाना हो केदार जी बेहद खूबसूरती से रच देते हैं अनुभवों को उनकी सच्चाईयों के साथ।

जिसे ओर हम देखने से बचना भी चाहते हैं उसी ओर केदार जी का कवि खींच ले जाता है, वह अनुभव एक अलग सा एहसास भर देते हैं मन में। पतीली में गरम होता दूध रात की रोटी जो बची रह गई है, कोरे काग़ज़ पर जो कुछ भी लिखा जारहा है वह 'कुछ' आग की महक, जिसमें रोटियाँ पक रही हैं, अखबार जिसका सुबह सवेरे इंतज़ार रहता है, साबुन का डिब्बा जो अपने अजब से जादू से खींच रहा है, दूप में खड़ी साइकिल माचिस की तीली–गूंथा जाने वाला आटा सभी व्याख्या पा रहे हैं–'ज़मीन पक रही है' कविता संग्रह में।

केदार जी ने ज़मीन पक रही है कविता संग्रह में प्रकृति प्रेम, सौन्दर्य को ही न जाने कितने बिंब प्रतीक शब्दों को उकेरा है अपितु वे उन्हें रोजमर्रा के जीवन की बेनकाब सच्चाईयों से भी जोड़ रहे हैं, यहाँ यदि हर क्षण महत्व का है, वहीं हरेक वस्तु व हरेक एहसास भी गहराईयों से बंधे नज़र आते हैं।